International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

कुछ असल है कुछ ख़्वाब है, कुछ तर्ज़ेअदा है

श्रुति सुधा आर्या
विधि विभाग (अतिथि प्रवक्ता)
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

शोध–आलेख सार – नासिरा शर्मा के उपन्यास पारिजात में रिश्ते–नाते, इंसानियत, उलझनें, मातम और जीवन सब कुछ पूरी रवानगी से मौजूद है। इसके अंतर्गत महज मनुष्यता को ही केन्द्र में न रखकर मनुष्य के व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को केन्द्र में रखने का प्रयास किया गया है। पारिजात शब्द यहाँ सुकून के द्योतक के रूप में दिखाई पड़ता है। जिसकी उपन्यास के लगभग हर पात्र को तलाश है। इस उपन्यास की खासियत यह भी है कि इसमें जीवन और अनुभव जगत के रेशों को इतनी खूबसूरती से खोला गया है कि दो पीढ़ियों का अंतराल अपने फासलों को कम करने में सक्षम दिखाई पड़ता है। हर जगह प्रेम का त्रिकोणात्मक संबंध कहीं पाठक के समक्ष सवाल खड़े करता है तथा धर्म एवं जाति का पूरा इनसाइक्लोपीडिया पाठक के कई सवालों का जवाब बन कर जेहन की खिड़कियों को भी खोल देता है।

मुख्य शब्द – पारिजात, अवसाद, लखनऊ, तहज़ीब, मौत, विरासत, वारिस, इलाहाबाद।

कुछ असल है कुछ ख़्वाब है, कुछ तर्ज़ेअदा है

एक वक्त आता है जब सब कुछ बनता चला जाता है, फिर समय करवट लेता है तो सब कुछ बिगड़ता चला जाता है, मगर वक्त को कहाँ चैन, फिर वह मचल कर करवट बदलता है तो फिर सब जुड़ने और बनने लगता है। (पृ0 213)

हाँ शायद यही सच है जीवन का और नासिरा जी के उपन्यास पारिजात का भी। पारिजात एक ऐसा उपन्यास जिसमें मृत्यु के अवसाद के साये से आरम्भ हुई पाठक की यात्रा

हरहराते जीवन की शुरूआत पर जाकर खत्म होती है। इस यात्रा में पाठक, लेखिका के साथ अनेक स्थानों पर जज़्बाती हो उठता है लेकिन पाठक को जज़्बाती बनाना भर लेखिका के उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। वे तो मनुष्य के भीतर की मनुष्यता को केन्द्र बनाकर लिख रही हैं। यथा, ''बात कमाने की नहीं है। मैं बात उस इन्सान की कर रही हूँ जो दुनियावी वैभव से हटकर अपनी खुद की ग्रोथ एक इन्सान के नाते कितनी कर पाता है।''[1] यह महज़ प्रभा दत्त का रोहन को कहा गया कथन नहीं है अपितु इस सम्पूर्ण उपन्यास में हर पात्र एक मनुष्य के रूप में ही अपनी पहचान पाने का प्रयास कर रहा है। यही कारण है कि उपन्यास में कोई भी पात्र, किसी भी अपने से इतर पात्र के व्यक्तिगत विकास को बाधित नहीं कर रहा। सबके यहाँ एक–दूसरे के लिए भरपूर स्पेस है। इसके बावजूद रूही द्वारा रोहन को यह कहा जाना कि, ''मुझे मेरी तरह देखने की कोई कोशिश नहीं करता है, सब मुझ पर अपने को लादना चाहते हैं''[2] से स्पष्ट होता है कि नासिरा जी केवल मनुष्यता को ही केन्द्र न बनाकर मनुष्य के व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को भी केन्द्र में रखने का प्रयास कर रही हैं। बावजूद इसके आपके पात्र देश–दुनिया से बेखबर केवल अपने में ही रचे–बसे पात्र न होकर समकालीन मुद्दों पर विचार करते, नये–नये शोध करते तथा मुख्यतः नए और पुराने के मध्य 'सेतु' बनाने का प्रयास करते पात्र हैं। इस सेतु को बनाने का आधार नासिरा जी ग़म के अथाह दरिया को बनाती हैं। फिर यह गम चाहे रोहन का, रूही का, प्रह्लाद दत्त, फिरदौस जहाँ तथा मारिया का ही क्यों न हो। रूही का ग़म जहाँ उसे समाज में अनेकानेक लोगों की जीविका से जुड़े रहने के लिए प्रेरित करता है वहीं रोहन का गम उसे धर्म और जाति की वास्तविक गुत्थियों को शोध परक दृष्टि से सुलझाने के लिए प्रेरित करता है। प्रह्लाद दत्त

की बात करें तो वे अपने ग़म को भुलाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर व्याख्यानों की झड़ी लगाकर अपने तथा दूसरों के ज्ञान का विस्तार करते हैं तो फिरदौस जहाँ बेटी के लिए लिखे सिलसिलेवार ख़तों के बहाने से पूरी की पूरी लखनवी तहज़ीब से पाठक को परिचित करवा देती हैं और मारिया, मारिया तो स्वयं दूसरों को अवसाद से बाहर निकाल उन्हें पुनः जीवन जीने तथा अपनी स्थितियों को स्वीकार करने के लायक बनाती है।

वास्तव में नासिरा जी अपने पात्रों को ग़म से लबरेज कर उनमें अद्भुत जीवनी शक्ति का संचार करती हैं तथा फिर यथार्थ के खुरदरे धरातल पर भी जीवन का बीज अंकुरित कर देती हैं। इसीलिए रोहन की विवाह संबंधी स्वीकृति के एकदम बाद भी रोहन व रूही एक–दूसरे में डूबे न रहकर पुनः अपने कर्मक्षेत्र में जुट जाते हैं।

1

हम इश्क के बंदे हैं – मज़हब से नहीं वाक़िफ़

गर काबा हुआ तो क्या – बुतखाना हुआ तो क्या

यह महज हज़रत नवाब वाज़िद अलीशाह के लफ़्ज ही नहीं दोहराए गए हैं अपितु इनमें लेखिका ने वर्तमान समय की उस नब्ज़ को हमारे सामने रख दिया है जो कि हर धर्म, हर जाति का सार है। एक ऐसी ज़मीन जिस पर धार्मिक कट्टरता या कि कठमुल्लापन नहीं अपितु इन्सानियत व इन्सानी रिश्ते फलते–फूलते हैं। यही कारण है कि गोरे बाबा की कब्र पर जाते हुए रमज़ान के महीने में भी सफ़ीर शराब और सिगरेट खरीदता है। रोहन के प्रश्न पर भी वह सीधे कहता है कि – ''रमजान का महीना सब्र, कुर्बानी, इबादत, ज़कात (दान) का माना जाता है और हम सब एक माह खूब इबादत करते हैं, क्योंकि खुदा हमें प्यार करता

है और हम उससे, मगर इस दुनिया में एक रिश्ता और भी हमारा है, वह है आदमियत का, दोस्ती का, पहचान का। उसे भी तो पूरा करना वाजिब है।''[3] बिल्कुल यहीं, इसी स्थान पर हमें इज़्तिहाद का इस्लामी कानून याद हो आता है (जिससे लेखिक उपन्यास के पूर्वार्द्ध में ही पाठक से परिचित करवा चुकी हैं) किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इज़्तिहाद एक बौद्धिक मंच है जबकि यहाँ भाव पक्ष की प्रधानता है। लेकिन मर्सिया ? मर्सिया तो इंसानी जज़्बात से लबरेज है। दिलावर मिर्जा भी तो रोहन से मर्सिया के इसी रूप से परिचित करवाते हैं कि, ''यही है मर्सिया, जो मजहब से नहीं, इनसानी जज़्बे से ताल्लुक रखता है''[4] अब प्रश्न यह उठता है कि जब इन्सान है, इन्सानियत है, जज़्बात हैं, प्रेम है तथा भावुकता भी है तो आखिर ऐसा कौन सा विषैला कीड़ा है जो एक बार जहर छोड़ता है तो मुल्क बट जाते हैं? इन्सान ही इन्सान के खून का प्यासा हो जाता है तथा बरसों की मोहब्बत धर्म के नाम पर मनुष्यता को शर्मसार करने में जुट जाती है और बार–बार तारीखों को पीछे धकिया कर हम मध्ययुग में या कि अंधकार युग में पहुँच जाते हैं? थोड़ा होश आने पर, वहाँ से बौखलाकर जब हम इन अंधेरों से लौटने को छटपटाते हैं तो हमें रोशनी देती हैं पारिजात की मशाल को हाथ में थामे नासिरा जी। अपनी पुख्ता तैयारी के साथ झिंझोड़ती हुई तथा वस्तुस्थिति से परिचित करवाती हुई। इसीलिए तो सफीर देश–काल की सीमाओं के पार उतरकर अपनी बात को पुख्ता अंदाज में कहता है कि, ''तब धर्म के नाम पर सियासत का दखल इनसानी ज़िंदगी में इतनी शिद्दत से नहीं था। हक और नैतिक मूल्यों के प्रति सब एक थे। अब हम जाने कितने खानों में बंटकर इनसान को ही दुश्मन समझ बैठते हैं।''[5] केवल सियासत ही क्यों? क्या हम सहूलियत नहीं ढूंढते ? क्या हमें जीवन में आगे बढ़ने की

होड़ रॉबिन जैसे युवाओं में तब्दील नहीं कर रही जहाँ ब्राह्मण होकर हिन्दुओं के बीच उठना–बैठना मुनाफे और लाभ के साथ सामाजिक प्रतिष्ठा भी देता है तथा एक प्रकार का शिनाख्ती कार्ड भी। मोहियाल मिलन जैसे समारोहों में तो संबोधन ही 'फख़रे कौम' जैसे शब्दों से होता है। जो इन चीज़ों से बगावत करता है उसकी स्थिति लगभग शेखर दत्त जैसी ही हो जाती है। स्थिति तो यह भी बनती है कि नस्ल, धर्म, जाति और भाषा के पैरोकार न होने पर भी हम अकसर कट्टरतावादियों के हुजूम में शामिल हो जाते हैं लेकिन इससे भी ज्यादा चुनौतिपूर्ण स्थिति वह होती है जब हम फैसले की स्थिति में पहुँचते हैं। हम उन्मत्त होकर धर्मावेश में बह जाते हैं या विद्रोही होने पर व्यवस्था के ही द्वारा कुचल दिए जाते हैं या फिर वस्तु–स्थिति को समझ कर भी अपने लिए थोड़ा जटिल और लंबा किन्तु मनुष्यता का विवेक सम्मत रास्ता चुन लेते हैं। इस रास्ते पर कांटों की कमी नहीं है। वे कांटे ऐलिसन बनकर कभी जेल भिजवाते हैं, कभी झूठे आरोपों की टीस देते हैं तो कभी पारिजात से बिछड़ने के कारण हर क्षण चुभन और दर्द देते हैं। इसके बाद भी मनुष्य बने रहकर प्रभा दत्त के रूप में यह कहना कि, ''इंसानी गिरहों को एहसास से खोलना बेहतर होता है। देर लगती है मगर बेटे! यह कानूनी कलाबाजियाँ जज़्बात को सुखाने में बड़ी माहिर होती हैं''[6] सरल नहीं है। नासिरा जी आज के समय की नब्ज को बखूबी पहचानती हैं। वे जानती हैं उपभोक्तावादी संस्कृति की भागदौड भरी ज़िन्दगी को लेकिन इसके बाद भी रोहन को थोड़ा ठहर कर इन्तज़ार करने की सलाह देना उसे वक्त से पीछे धकेलना न होकर उसे जीवन की विपरीत परिस्थितियों में भी सकारात्मक सोच के साथ संवेदनशील बनाये रखना है। साथ ही मन की गाँठों को जज़्बात से खोलकर भीतर के मनुष्य को न मरने देना है। अन्यथा एक

विदेशी लड़की जो प्रभा को पसंद ही नहीं थी से छुटकारा पाने का यह सुनहरा अवसर सामने मौजूद है। आगे स्थिति क्या बनती है? ऐलेसन कैसा निर्णय लेती है तथा अपने व पारिजात के लिए कैसा भविष्य चुनती है वह भविष्य के गर्भ में छुपा था किन्तु मनुष्य होने के नाते वे स्वयं उस स्थिति में क्या चुनाव करते हैं, वह वर्तमान का विवेक सम्मत मानवीय निर्णय होना चाहिए। इसीलिए वह रोहन से वायदा लेती हैं कि वह उसे एक दिन भी जेल नही भिजवायेगा। यद्यपि मानवीय निर्णयों के नकारात्मक पक्ष पर भी नासिरा जी रोहन की शिकायत के माध्यम से पाठक का ध्यान आकर्षित करती हैं कि 'अपने मुझे मानवीय मूल्यों से तो नवाज़ा किन्तु अमानवीय स्थितियों से टक्कर होने पर स्वयं को बचाने का मार्ग नहीं समझाया'। देखने की बात यह है कि लेखिका इस समस्या व इस प्रश्न को महज उठाकर ही शांत नहीं होतीं अपितु सीधे जीवन का सार हाथ में पकड़ा देती हैं कि जीवन में सब के अनुभव क्षेत्र अलग हैं। उनके संघर्ष अलग हैं। इसलिए मनुष्य को स्वयं पर विश्वास करना होगा तथा अपने विवेक का सहारा लेकर खुद ही अपना पथ–प्रदर्शित करना होगा।

सच भी है दूसरे का सहारा लेकर कभी जीवन में ऊँचा नहीं उठा जा सकता। जीवन की जंग जीतने के लिए तो स्वयं सिर पर कफन बांध मैदान में उतरना होगा और अदम साहस के साथ मनुष्य बने रहकर अपनी लड़ाई को खुद ही लड़ना होगा।

2

- *तुम मेरी कमाई हुई दौलत हो। हर अध्यापक का ख़जाना दरअसल उसके विद्यार्थी होते है। (पृ0 442)*
- *तुम बहुत बड़ी विरासत के वारिस हो रोहन (पृ0 482)*

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

पारिजात में नासिरा जी जिस विरासत की बात कर रही हैं वह दरअसल धन, दौलत, जमीन, जायदाद जैसी चीजों से बहुत ऊपर 'शिक्षा की विरासत है'। एक ऐसी विरासत जिसे लेने वाला ही नहीं अपितु देने वाला भी अमीर हो जाता है क्योंकि उसे भी तो 'ब्रह्मराक्षस' नहीं बनना अपितु मुक्ति को प्राप्त करना है। मुक्ति, ज्ञान की गठरी को बिना बांटे सिर पर उठाये रखने के बोझ से। ऐसी मुक्ति तो कोई पात्र ही दिला सकता है। कोई ज्ञान का पिपासु याचक। जैसे प्रह्लाद दत्त के ज्ञान का याचक निखिल। इसी मुक्ति के भाव में ही तो प्रह्लाद दत्त के चेहरे पर 'ताजगी की एक पर्त' के साथ जानदार मुस्कराहट बिखर जाती है। यहीं, इसी क्षण वे उसे अपने जीवन की कमाई हुई अमूल्य दौलत मान लेते हैं। बिल्कुल यहीं पाठक यह महसूस करता है कि वास्तव में निखिल ही प्रह्लाद दत्त का बड़ा पुत्र कहलाने का हकदार है किन्तु ऐसा सोचना पाठक का केवल भाव पक्ष ही कहलायेगा। वास्तव में यहाँ जाने क्यों संगीत के घरानों की रिवायत भी याद आती है। जहाँ ज्ञान अकसर घराने अर्थात् वंश में ही बांटने की परम्परा रही है। आज समय बदल चुका है। आज बहुत हद तक संतान को अपना व्यवसाय स्वयं चुनने की स्वतंत्रता है। यही कारण है कि आज एक शिक्षक की विरासत दो खांचों में बंट जाती है। पहली वह, जिसे उसे अपनी ही संतान को सौंपना होता है किन्तु दूसरी विरासत जो कि उसका अनुभव जगत है उसे पाने के लिए तो पात्र की ही आवश्यकता होती है। निःसंदेह इस विरासत का वारिस रोहन न होकर निखिल है। प्रह्लाद दत्त के अनुभव जगत की बहुत बड़ी विरासत का वारिस।

पारिजात में नासिरा जी शिक्षा एवं व्यक्ति के विकास के अन्तर्द्वन्द्व को भी रेखांकित करने से नहीं चूकतीं। शिक्षा जहाँ व्यक्ति को ज्ञान देती है वहीं सही और गलत को चुनने

का विवेक भी देती है। 'माँ की तन्हाई और बहन की ज़िम्मेदारी से बेपरवाह मोनिस का पढ़–लिख कर विदेश में ही बस जाना कहीं न कहीं स्वयं लेखिका को ही अखर रहा है। यही कारण है कि साबिर के पिता ग़फूर नहीं चाहते कि वह ज्यादा पढ़े और आने वाले समय में नौकरी के लिए अपनी जड़ों से कहीं दूर चला जाए। शिक्षा तो वास्तव में वह है जो अपने आसपास को सुधारने का विवेक दे। वैसा ही विवेक जैसा नवजागरण के दौर में हमारे समाज सुधारकों ने अर्जित किया। जिसके दम पर उन्होंने व्यवस्था एवं समाज को चुनौती दी तथा रूढ़ियों के उन्मूलन का प्रयास किया। वास्तव में पढ़–लिख कर हमारा दिमाग हमें एक ही विवेक के दो राहों पर खड़ा कर देता है। पहला व आसान रास्ता तो यही है कि व्यक्ति अच्छी नौकरी के साथ अच्छे स्तर को प्राप्त कर विदेश में ही बस जाये तथा उसी धरती को ऊँचा उठाने में अपनी क्षमता लगाए। दूसरी स्थिति वह है जब वह अपने ज्ञान का लाभ अपने राष्ट्र को उन्नत करने में लगाए। अपने आसपास को सुधारने का प्रयास करे तथा अपने समाज की जड़ताओं पर कुढ़ने के स्थान पर समाज को उससे बाहर निकालने का प्रयास करे। पर संस्कारों का जामा पहने खड़ी रूढ़ियों से टकराना इतना सरल भी कहाँ ? इस रास्ते पर तो ज्योतिबा फूले की तरह लोगों के पत्थर खाने पड़ते हैं। गालियों का सामना करना पड़ता है। पर यह संघर्ष व्यर्थ नहीं जाता। समाज में स्त्री शिक्षा का बिगुल बजता है तथा समाज नई तरह से जागता है। बात वर्तमान संदर्भ में करें तो आज की शिक्षण एवं रोजगार पद्धति में जो महत्व डिग्री का है वह कला या हुनर का नहीं रह गया है। परिणामस्वरूप कला, कला के लिए न रहकर डिग्री के लिए होती जा रही है। यही कारण है कि नावेद जैसे बेहतरीन कलाकार या तो वक्त की तहों में दब गए हैं या फिर बेरोजगारी के

आलम में भरपेट रोटी भी अपने लिए मय्यस्सर नहीं कर पा रहे हैं। जबकि राष्ट्र को ऊँचा उठाये रखने के लिए शिक्षा के साथ–साथ संस्कृति को बचाये रखना भी अत्यंत अनिवार्य है। इसीलिए तो फिरदौस जहाँ और सरस्वती की बातों में नासिरा जी स्पष्टतः कह देती हैं कि, ''अरे, प्रोफेसरो! दुनिया तुम्हारे इकोनॉमिक उसूलों पर नहीं, कल्चरल तानेबाने पर खडी है। वही रस है, जो खास व आम को ज़िंदा रखे है।''[7] सच भी यही है कि शिक्षा के साथ–साथ व्यक्ति जब अपनी जड़ों से जुड़ता है, अपनी संस्कृति, अपनी पहचान को पाता है तो निःसंदेह अपने साथ–साथ अपने राष्ट्र का भी विकास करता है। बशर्ते इस विकास में श्रेष्ठ जातियता का दंभ न हो क्योंकि जातीय दंभ तो व्यक्ति को विवेक शून्य बनाकर कभी हिटलरों की पंक्ति में खड़ा करता है तो कभी गैस चैंबरों में दम घोट देता है। वास्तव में नासिरा जी की लेखकीय तटस्थता का ही परिणाम है कि वे सीधी–सरल सी दिखती कहानी में भी समाज की विडम्बनाओं को दर्शा देती हैं। यही कारण है कि वे एक तरफ तो शिक्षण में प्रह्लाद दत्त और निखिल का आदर्श प्रस्तुत करती हैं तो दूसरी तरफ डिग्रियों की भी अहमियत समझाती हैं किन्तु डिग्री की सार्थकता तो एक सच्चे अध्यापक और सीखने के लिए लालायित शिष्य में ही निहित है और निःसंदेह **'बात सिर्फ तालीम की है'**।

3

- *सुनता हूँ बड़े गौर से अफ़सान–ए–हस्ती*

  कुछ असल है कुछ ख्वाब है, कुछ तर्ज़ेअदा है (पृ0 462)

- *यही ज़िन्दगी है... इसको समझने के लिए हाथियों का हुजूम नहीं, बस एक धड़कता दिल चाहिए। (पृ0 462)*

दरअसल जो पंक्तियाँ लेखिका ने लखनऊ के लिए इतनी खूबसूरती से लिखी हैं एक पाठक के तौर पर मेरी समझ में ये पंक्तियाँ संपूर्ण जीवन का सार हैं क्योंकि जीवन हिसाब–किताब नहीं; रस है, ध्वनि है, हंसी है, खुशी है, आंसु हैं, सपने हैं, चुभन है, टीस है, संघर्ष है, और जिजीविषा है। ऐसे जीवन के लिए संवेदनाओं के साथ मस्तिष्क का संतुलन भी अनिवार्य हो जाता है। इसी बनते–बिगड़ते संतुलन में हम दो पीढ़ियों के अंतराल को देख सकते हैं। हम फिरदौस जहाँ को अपने अतीत में डूबे रहने के कारण बीमार होते देख सकते हैं तो अपने वर्तमान के कुठाराघात को झेल रहे रूही और रोहन को भी देख सकते हैं और वक्त के ही घोडों पर सवार अपनी कामयाबी का जश्न मनाते मोनिस को भी देख सकते हैं। मोनिस, जिसका लखनऊ से कोई लगाव नहीं है और फिरदौस, जो अपने ख्यालों में, अपनी कलम में तथा अपनी सखियों में केवल लखनऊ को ही जीती, महसूस करती और सूंघती है। माँ और बेटा यहाँ दो विपरीत ध्रुव जान पड़ते हैं। एक–दूसरे से पूर्णतः नाखुश। इन दोनों का केन्द्र है रूही। वर्तमान व पिछली पीढ़ी के बीच सधे कदमों से संतुलन बनाती हुई एक आधुनिक स्त्री। इसीलिए तो फिरदौस जहाँ के लिए वह 'आबेहयात की बूंद' है लेकिन असमय की मार ने माँ–बेटी के इस रिश्ते में भी अजनबीपन भर दिया है। पर अजनबियत की इस रिक्तता को खतों के माध्यम से पूरा करती है फिरदौस जहाँ। उम्मीद करती है कि अपनी माँ के अतीत को जान–समझ कर रूही पुराने लखनऊ अर्थात् पुरानी तहजीब को जान पाएगी। यह जानना किसी परी कथा की कहानी की तरह न होकर रूही के हाथ में बीते कल के अनुभव की मशाल थमाकर उसे वर्तमान में स्थापित करना तथा आने वाले कल के लिए सहेजना है। ऐसा केवल रूही के लिए इसलिए है क्योंकि वह प्रतिनिधित्व

कर रही है आधुनिक व संतुलित संतान का। वह केवल कार्पोरेट जगत की रची–बसी स्त्री या 'डमी' न होकर रिश्तों व संबंधों का अपने काम के साथ सामंजस्य स्थापित करके चलने वाली स्त्री है। हार्वड यूनिवर्सिटी में पढ़ी यह स्त्री कहीं भी, किसी भी स्तर पर आधुनिकता में ऐलेसन से कमतर नहीं आँकी जा सकती। लेकिन संबंधों तथा कामकाजी जीवन में उसका संतुलन ही है जो बार–बार प्रभा एवं प्रह्लाद दत्त की 'काश' शब्द में वह पुत्रवधू के रूप में उभरती है। वह रूही जो किसी को भी स्वयं के लिए पहचान के खास खाने नहीं बनाने देना चाहती वह पूरे समर्पित भाव से न केवल अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करती है अपितु अपने संबंधों को भी शिद्दत से निभाती है। इसी संदर्भ में लेखिका एक यूटोपिया सृजित करती है। समय है, रूही के घर की पार्टी का। मोनिस का रूही के लिए 'एक बीवी की जरूरत महसूस करना' और रोहन के लिए 'एक अदद शौहर की जरूरत' महसूस करना एक मजाक भर नहीं है। अपितु यह लेखिका का अपने समय व समाज के समानान्तर एक ऐसी धरती और ऐसे स्त्री–पुरूष की परिकल्पना है जो लैंगिक विभाजन से कोसों दूर हों। जहाँ स्त्री और पुरूष सही अर्थों में एक–दूसरे के पूरक हों। यहीं इसी स्थान पर 'पारिजात' शब्द केवल रोहन के पुत्र का अभिधात्मक नाम भर न रहकर लक्ष्णात्मक नाम बन जाता है। पारिजात अर्थात् सुकून। जिसकी उपन्यास के हर पात्र को तलाश है। फिरदौस जहाँ जब यह कहती है कि, ''अपना पारिजात कहाँ खो गया? हम तीन खानदानों की औलाद था वह प्रह्लाद।''[8] तब पाठक को सहज ही मोनिस के दो बच्चों का ख्याल आ जाता है किन्तु फिरदौस जहाँ जिस पारिजात की बात यहाँ कर रही हैं वह निःसंदेह मानसिक, शांति व सुकून का नाम है जो एक साथ तीनों खानदानों में समाप्त हो गया है। अपनी बात को पुख्ता

करने के लिए लेखिका डायरी के माध्यम से अनुपस्थित लोगों को भी उपस्थित कर, उनके अनुभव जगत को पाठक के समक्ष रेशा–रेशा खोलकर रख देती है। इस तरह जीवन व अनुभव की हर गिरह खुलने से उपन्यास में दो पीढ़ियों के बीच का अंतराल अपने फासलों को कम करता दिखाई पड़ता है। यही तो जीवन है जहाँ बहुत कुछ आज भी अनुपस्थित में उपस्थित है और बहुत कुछ उपस्थित को कांट–छांट कर आगे भी उपस्थित रहने योग्य बनाये रखना है। इसी के लिए लेखिका पारिजात में धर्म व जाति का पूरा एनसाइक्लोपीडिया रच देती हैं। यद्यपि कहीं–कहीं यह कहानी के प्रवाह को भी बाधित करता है किन्तु फिर भी इसमें व्यवस्था को समझने का पूरा विवके छुपा है। एक बात जो पाठक को पूरे उपन्यास में अखरती है वो यह है कि लेखिका हर जगह प्रेम का त्रिकोणात्मक संबंध रचती हैं। चाहे रूही, काजिम और रोहन के सम्बन्ध को देखें या रोहन, रूही और चंद्रमुखी के या फिर संतरा, मोसम्मी और साबिर। हर जगह कोई एक अपने प्रेम में हारा हुआ। क्या वास्तविक जीवन भी ऐसा ही है या कि आने वाले समय में दुर्घटनाओं के अंदेशे में यह एक अन्य विकल्प?

संदर्भ –

1. पारिजात, पृ0 223, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
2. वही, पृ0 167
3. वही, पृ0 459
4. वही, पृ0 103
5. वही, पृ0 237
6. वही, पृ0 241

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

7. वही, पृ0 489, 490

8. वही, पृ0 360